



Swami Vivekananda Advanced Journal for Research and Studies

Online Copy of Document Available on: www.svajrs.com

ISSN:2584-105X

Pg. 43-49



गुप्त काल में सप्तमातृकाओं की उत्पत्ति और विकास का अनुशीलन

Suneet Kumar Dwivedi

Research Scholar, Veer Bahadur Singh Purvanchal University, Jaunpur

Prof. Vimlesh Kumar Panday

Saltanat Bahadur PG College, Badlapur, Jaunpur (Veer Bahadur Singh Purvanchal University, Jaunpur)

Accepted: 07/09/2026

Published: 17/09/2026

DOI: <https://doi.org/10.5281/zenodo.22807532>

सारांश

प्रस्तुत शोध-पत्र गुप्त काल में सप्तमातृकाओं के उद्भव और विकास का अध्ययन साहित्यिक, अभिलेखीय तथा मूर्तिकला-साक्ष्यों के संयुक्त आधार पर करता है। इसका मुख्य प्रतिपादन है कि गुप्त काल सप्तमातृकाओं का आकस्मिक जन्मकाल नहीं था; वह प्राचीन, बहुसंख्यक और स्थानीय मातृ-परम्पराओं के चयन, पुनर्संयोजन, मूर्तिवैज्ञानिक वर्गीकरण और संस्थानीकरण का निर्णायक चरण था। ऋग्वैदिक 'सप्त मातरः' को बाद के निश्चित सप्तक का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं माना जा सकता, जबकि महाभारत का स्कन्द-संबद्ध मातृगण एक अधिक निकट, किंतु अभी अनिश्चित-संख्या वाला पूर्वरूप प्रस्तुत करता है। उदयगिरि के 6, 6 और 8 आकृतियों वाले क्षतिग्रस्त समूह मानकीकरण की प्रयोगशील अवस्था दिखाते हैं; गंगधर अभिलेख माताओं के पृथक् 'अत्युग्र' देवगृह को प्रमाणित करता है; और बड़ोह-पठारी का 7 माताओं वाला पटल विशिष्ट सप्तक के संघटन का सबसे महत्वपूर्ण गुप्तकालीन प्रमाण है। देवीमाहात्म्य में पुरुष देवताओं की शक्तियों के रूप में मातृकाओं का युद्धकारी पुनर्विन्यास और बृहत्संहिता में स्वनाम-संबद्ध देवताओं के अनुरूप उनके चिह्न बनाने का निर्देश इस प्रक्रिया के सिद्धान्तगत तथा प्रतिमात्मक पक्षों को स्पष्ट करते हैं। फिर भी नाम, संख्या, क्रम और पार्श्वदेवों की भिन्नता बताती है कि 5वीं-6वीं शताब्दी में मानकीकरण अभी अपूर्ण था। सप्तमातृकाओं की ऐतिहासिक शक्ति मातृत्व और उग्रता, रोग और आरोग्य, स्थानीयता और पुराणसम्मत सार्वभौमिकता के सर्जनात्मक संयोग में निहित थी।

मुख्य शब्द: सप्तमातृका, गुप्त काल, मातृगण, स्कन्द, उदयगिरि, गंगधर, बड़ोह-पठारी, देवीमाहात्म्य, मूर्तिविज्ञान, शक्ति-उपासना।

1. प्रस्तावना

भारतीय धार्मिक इतिहास में सप्तमातृकाएँ ऐसी देवियों का समूह हैं जिनमें माता की पोषक शक्ति और रोग, युद्ध तथा मृत्यु से जुड़ी उग्रता एक-दूसरे का निषेध नहीं करती, बल्कि परस्पर पूरक बनती हैं। उत्तरकालीन मूर्तिवैज्ञानिक परम्परा में ब्राह्मणी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, ऐन्द्री और चामुण्डा को प्रायः सप्तमातृका कहा गया। किंतु यह सूची न सभी कालों में अपरिवर्तित रही, न सभी क्षेत्रों में समान रूप से स्वीकृत हुई। कहीं नारसिंही चामुण्डा का स्थान लेती है, कहीं देवियों की संख्या 8 होती है और कहीं मातृगण असंख्य स्त्री-शक्तियों के रूप में प्रकट होता है। इसलिए आरम्भ से ही पूर्णतः निर्मित सप्तक मान लेना विकास की जटिल प्रक्रिया को स्थिर रूप में बदल देना होगा। जै-ऊन शिन ने ठीक ही बल दिया है कि 4वीं शताब्दी से मातृकाएँ पृथक् मूर्तिगत समूह के रूप में अधिक स्पष्ट होती हैं, पर उनके नाम, संख्या और लक्षण तत्काल जम नहीं जाते।¹

यहाँ 'उत्पत्ति' का अर्थ किसी एक तिथि, ग्रन्थ या मूर्ति में पहली उपस्थिति खोजना नहीं है। धार्मिक रूप अनेक स्तरों पर निर्मित होते हैं-स्थानीय अनुष्ठान, प्रसव और रोग के अनुभव, मौखिक आख्यान, पौराणिक वंशावली, राजकीय संरक्षण, मन्दिर-संस्था और शिल्प-परम्परा परस्पर संवाद करते हुए उन्हें नया अर्थ देते हैं। अतः प्रश्न यह नहीं कि 'पहली सप्तमातृका' कहाँ थी, बल्कि यह है कि अनिश्चित-संख्या वाले मातृगण से पहचानयोग्य सप्तक की ओर संक्रमण किन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं द्वारा हुआ। इस दृष्टि से गुप्त युग को आविष्कार का क्षण नहीं, संघटन और मानकीकरण का निर्णायक चरण कहना अधिक उचित है।

'गुप्त काल' से इस शोध-पत्र में लगभग 4वीं से 6वीं शताब्दी का व्यापक सांस्कृतिक क्षितिज अभिप्रेत है। इसमें गुप्त सम्राटों के प्रत्यक्ष क्षेत्र के साथ वाकाटक, औलिकर और मध्य भारत के अन्य समकालीन राज्य भी आते हैं। यह भेद इसलिए आवश्यक है कि गंगधार का महत्त्वपूर्ण मातृका-साक्ष्य गुप्त राजवंश का नहीं, औलिकर नरेश विश्ववर्मन् के समय का है। समान काल, लिपि अथवा कला-भाषा को प्रत्यक्ष गुप्त राजकीय संरक्षण समझना राजनीतिक इतिहास और सांस्कृतिक इतिहास की सीमाओं को मिला देगा।

इस अध्ययन के 3 प्रमुख प्रश्न हैं। पहला, गुप्तपूर्व मातृ-परम्पराओं और गुप्तकालीन मूर्तिगत समूहों के बीच किस सीमा तक निरन्तरता स्वीकार की जा सकती है? दूसरा,

उदयगिरि, गंगधार और बड़ोह-पठारी के साक्ष्य संस्था, संख्या और देव-विन्यास के किस चरण को दिखाते हैं? तीसरा, पौराणिक आख्यान और मूर्तिविधान मातृत्व, उग्रता तथा राज्य-संरक्षण को किस प्रकार एक नई धार्मिक भाषा में जोड़ते हैं?

2. स्रोत, संज्ञाएँ और अध्ययन-पद्धति

सप्तमातृकाओं के स्रोत समान काल, उद्देश्य या विधा के नहीं हैं। *महाभारत* दीर्घकाल में विकसित आख्यान है; *देवीमाहात्म्य* एक देवी-केंद्रित धर्ममीमांसा रचता है; *बृहत्संहिता* प्रतिमा-निर्माण का संक्षिप्त निर्देश देती है; अभिलेख किसी विशेष दान, निर्माण या प्रतिष्ठा को दर्ज करते हैं; और मूर्तियाँ स्थानीय शिल्प, दर्शक तथा अनुष्ठानिक परिसर का भौतिक प्रमाण हैं। लिखित विधान और प्रतिमा को एक-दूसरे का हूबहू प्रतिरूप मानना इसलिए उचित नहीं। माइकल माइस्ट्र ने क्षेत्रीय प्रतिमाओं की तुलना करते हुए दिखाया है कि ग्रन्थों के नाम और लक्षण वास्तविक मूर्तियों से विरले ही पूर्ण मेल खाते हैं।²

इस समस्या से निपटने के लिए 3 संज्ञागत भेद आवश्यक हैं। 'मातृदेवी' आधुनिक अध्ययन की व्यापक श्रेणी है, जिसमें उर्वरता, प्रसव, शिशु-रक्षा, रोग-निवारण या ग्राम-संरक्षण से जुड़ी देवियाँ आ सकती हैं। 'मातृ' अथवा 'मातृका' प्राचीन स्रोतों में प्रायः बहुवचन में प्रयुक्त अनिश्चित-संख्या वाला देवसमूह है। 'सप्तमातृका' 7 देवियों का विशिष्ट सिद्धान्तगत और दृश्य संघ है। अतः प्रत्येक स्त्री-मूर्ति, शिशुधारिणी प्रतिमा या 7 स्त्रियों की पंक्ति को बिना अन्य प्रमाण के सप्तमातृका कहना उचित नहीं। पहचान के लिए संख्या के साथ आयुध, वाहन, मुखरूप, आसन, सहचर, अभिलेख और प्राप्ति-स्थान का मेल देखना होगा।

इसी प्रकार पौराणिक उत्पत्ति-कथा और ऐतिहासिक उत्पत्ति अलग हैं। जब कोई ग्रन्थ कहता है कि देवियों का जन्म पुरुष देवताओं के शरीर से हुआ, तो वह उनकी पुरातात्विक प्रथम तिथि नहीं देता; वह देवसमाज में उनकी वैध स्थिति की धार्मिक व्याख्या करता है। बाद के आगमिक लक्षणों से पहले की क्षतिग्रस्त प्रतिमाओं का नाम निश्चित करना भी काल-विपर्यय है। इस शोध-पत्र में इसलिए साहित्य, अभिलेख और प्रतिमा को स्वतंत्र प्रमाण मानते हुए उनके संयोग और असहमति-दोनों को ऐतिहासिक अर्थ दिया गया है।

¹ जै-ऊन शिन, 'मातृगण से सप्तमातृकाएँ: देशज देवियों का ब्राह्मणीय रूपान्तरण', *एशिया विषयक उन्नत अध्ययन संस्थान की स्मरणिका*, अंक 160, 2011, पृ. 566-592, विशेषतः पृ. 566-568 तथा 591-592।

² माइकल डब्ल्यू. माइस्ट्र, 'मातृका-परम्पराओं में क्षेत्रीय विविधताएँ', *आर्टिबस एशिए*, खण्ड 47, अंक 3-4, 1986, पृ. 233-262, विशेषतः पृ. 233-240।

3. गुप्तपूर्व पूर्वपीठिका: मातृ-बहुलता से मातृगण तक

भारतीय उपमहाद्वीप में स्त्री-दैवत्व और प्रजनन-संबंधी प्रतिमाओं की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है, पर उससे सप्तमातृका का सीधा वंशक्रम सिद्ध नहीं होता। सिन्धु सभ्यता की कुछ मुद्राओं पर 7 स्त्री-आकृतियाँ दिखाई देती हैं, किंतु लिपि अपठित है और उत्तरकालीन प्रतिमाओं से कालान्तर बहुत बड़ा है। ऐसी दृश्य समानता एक सम्भावना जगा सकती है, पर धार्मिक नाम, आख्यान और अनुष्ठान की निरन्तरता प्रमाणित नहीं करती। ऋग्वेद 9.102.4 में 'सप्त मातरः' सोम से संबद्ध वैदिक प्रसंग में आती हैं; वहाँ ब्राह्मणी, माहेश्वरी या वाराही का कोई निश्चित देवसमूह नहीं है। इसलिए यह पद 7 की प्राचीन प्रतीकात्मक प्रतिष्ठा का संकेत तो है, बाद के सप्तक का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं।³

अधिक निकट पूर्वपीठिका *महाभारत* में मिलती है। आरण्यकपर्व 3.217.8-10 में काकी, हलिमा, रुद्रा, बृहली, आर्या, पलाला और मित्रा को 'सप्तैता शिशुमातरः' कहा गया है। यह 7 का महत्त्वपूर्ण सूत्र है, पर नाम उत्तरकालीन ब्राह्मणी आदि सप्तक से भिन्न हैं और प्रसंग शिशुओं को प्रभावित करने वाली शक्तियों का है। शल्यपर्व 9.45 में स्कन्द-अनुचर माताओं की लम्बी नामावली है और पाठ स्वयं उनके सहस्रों रूप होने की बात कहता है। वे वृक्षों, चौराहों, गुफाओं, श्मशानों, पर्वतों तथा जलस्रोतों जैसे सीमांत स्थानों में निवास करती हैं; उनके वेश, आभूषण, रूप और भाषाएँ विविध हैं। कुछ सौम्य हैं, कुछ विकराल; कुछ पालनकर्त्री हैं, कुछ युद्ध-सहायिका। ये दोनों प्रसंग संख्या 7 और मातृ-बहुलता के साथ-साथ अस्तित्व को दिखाते हैं, किन्तु अभी उत्तरकालीन स्थिर सप्तक प्रस्तुत नहीं करते।⁴

स्कन्द से उनका संबंध इस संक्रमण की कुंजी है। माताएँ कभी शिशुओं को पीड़ित करने वाले ग्रहों के निकट हैं, कभी स्कन्द को पुत्र रूप में स्वीकारती हैं और कभी उसकी सैन्य अनुचर बनती हैं। रोग देने और रोग दूर करने की शक्ति एक ही सत्ता में स्थित है। पूजा का लक्ष्य उग्रता मिटाना नहीं, उसे प्रसन्न कर रक्षक बनाना है। डेविड किस्ले ने इस भयकारी-संरक्षणकारी द्वैत को मातृकाओं की मूल धार्मिक विशेषता माना है।⁵ प्रसव और बाल्य की असुरक्षा से जन्मा संरक्षण-

विश्वास इस प्रकार युद्ध, समुदाय और भूसीमा की रक्षा तक विस्तृत हो सका।

कुषाणकालीन मथुरा की मातृ-प्रतिमाएँ अगली महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं। वहाँ अकेली माताएँ, शिशुधारिणी आकृतियाँ, पशुमुखी स्त्रियाँ और कभी समूहबद्ध रूप मिलते हैं। संख्या या पहचान हर जगह निश्चित नहीं, इसलिए उन्हें विकसित सप्तमातृका-पट्ट नहीं कहा जा सकता; फिर भी वे यह सिद्ध करते हैं कि मातृ-समूह, बालग्रह और स्कन्द-संबद्ध धार्मिक संसार गुप्तों से पहले दृश्य संस्कृति में प्रवेश कर चुका था।⁶ गुप्तपूर्व अवस्था को 'अव्यवस्थित लोकविश्वास' और गुप्तकाल को अचानक प्रकट 'शास्त्रीय धर्म' कहना इसलिए भ्रामक है। स्थानीय देवियाँ निष्क्रिय सामग्री नहीं थीं; उनके नाम, उग्रता, सीमांत निवास और रोग-निवारक सामर्थ्य नई पौराणिक व्यवस्था में भी बने रहे।

4. गुप्तकालीन परिवेश: चयन, पुनर्संयोजन और संस्था

गुप्त युग में वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर, बौद्ध और जैन परम्पराएँ परस्पर संपर्क तथा प्रतिस्पर्धा में विकसित हुईं। देवप्रतिमा, मन्दिर, प्रतिष्ठा, दान और संस्कृत अभिलेख के बीच संबंध अधिक सघन हुआ। देवता अब केवल पृथक् मूर्ति नहीं रहे; उनके परिवार, सहचर, आयुधपुरुष, गण और शक्तियाँ सुव्यवस्थित पवित्र परिसरों में स्थान पाने लगीं। इसी वातावरण में मातृगण को ब्रह्मा, शिव, स्कन्द, विष्णु, वराह और इन्द्र जैसे प्रतिष्ठित देवताओं से नाम तथा चिह्न मिले।

इसे केवल एकतरफा 'ब्राह्मणीकरण' कहना पर्याप्त नहीं। ब्राह्मणीय देवकुल ने स्थानीय माताओं का चयन और वर्गीकरण किया, किंतु उन देवियों ने भी उग्रता, रोग-निवारण, रक्त, सीमा और सामूहिक स्त्री-शक्ति के अपने अर्थ व्यापक देवपरम्परा में पहुँचाए। ब्राह्मणी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही और ऐन्द्री ने पुरुष देवों के आयुध तथा वाहन ग्रहण किए; बदले में वे उन देवों की क्रियाशक्ति का मूर्त रूप बन गईं। ब्रजदुलाल चट्टोपाध्याय ने 'पुनःप्रकट होने' की सरल धारणा के स्थान पर धार्मिक अधिग्रहण की राजनीति पर ध्यान दिलाया है, जबकि शिन इसे चयनात्मक और क्षेत्रानुसार बदलती प्रक्रिया के रूप में देखते हैं।⁷

³ ऋग्वेद, 9.102.4; संख्यात्मक समानता की पद्धतिगत सीमा के लिए शिन, 'मातृगण से सप्तमातृकाएँ', पृ. 568-571।

⁴ वी. एस. सुवर्धकर एवं अन्य, सम्पादक, *महाभारत का आलोचनात्मक संस्करण*, 19 खण्ड, पुणे: भाण्डारकर प्राच्यविद्या अनुसंधान मन्दिर, 1933-1966, आरण्यकपर्व 3.217.8-10; आर. एन. दांडेकर, सम्पादक, *महाभारत: शल्यपर्व*, पुणे: वही संस्थान, 1961, 9.45.1-40, विशेषतः 9.45.29 तथा 9.45.38-40। प्रचलित संस्करणों में अध्याय-संख्या भिन्न हो सकती है।

⁵ डेविड किस्ले, *हिन्दू देवियाँ: हिन्दू धार्मिक परम्परा में दैवी स्त्रीत्व की दृष्टियाँ*, बर्कले: कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1986, पृ. 151-160।

⁶ नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी, 'मथुरा की कुषाण मूर्तिकला में मातृका-आकृतियाँ', मरीआने याल्डिज और विब्के लोबो द्वारा सम्पादित *भारतीय कला का अनुशीलन*, बर्लिन: भारतीय कला संग्रहालय, 1987, पृ. 159-171; जोशी, *कुषाण कला में मातृकाएँ*, नई दिल्ली: कनक प्रकाशन, 1986।

⁷ ब्रजदुलाल चट्टोपाध्याय, 'देवी का "पुनःप्रकट होना" अथवा ब्राह्मणीय अधिग्रहण-पद्धति', *प्राचीन भारत का अध्ययन*, दिल्ली:

‘धार्मिक अनुवाद’ और ‘पुनर्संयोजन’ इस द्विपक्षीय परिवर्तन के अधिक उपयुक्त पद हैं।

सप्तक का पंक्तिबद्ध रूप इस नए देव-विन्यास के अनुकूल था। प्रत्येक देवी पृथक् पहचान रखती थी, पर समान आसन और आकार उसे सामूहिक परिषद् का अंग बनाते थे। 7 की संख्या ने असंख्य माताओं को नष्ट किए बिना उनका प्रतिनिधि, स्मरणीय और पुनरावृत्त योग्य विन्यास उपलब्ध कराया। फिर भी आरम्भिक साक्ष्य बताते हैं कि यह एक आदर्श संख्या थी, अनिवार्य गणना नहीं।

5. उदयगिरि: मानकीकरण से पहले का दृश्य प्रयोग

विदिशा के समीप उदयगिरि गुप्तकालीन धर्म, कला और राजसत्ता के संबंध का प्रमुख स्थल है। यहाँ वराह, शिव, दुर्गा, गणेश तथा अन्य देवमूर्तियों, गुफाओं और अभिलेखों ने एक नियोजित पवित्र भू-दृश्य बनाया। गुप्त संवत् 82, लगभग 401-402 ईस्वी, का सनकानिक अभिलेख स्थल का आरम्भिक 5वीं शताब्दी वाला राजनीतिक क्षितिज सुरक्षित करता है; वीरसेन का अलग अभिलेख चन्द्रगुप्त 2 से संबंध बताता है। कोई भी लेख मातृका-समूह को नाम या स्वतंत्र तिथि नहीं देता, अतः पूरे परिसर की तिथि को प्रत्येक उत्कीर्णन की निश्चित तिथि नहीं बनाया जा सकता।⁸

उदयगिरि में वास्तव में 3 क्षतिग्रस्त स्त्री-समूह हैं। गुफा 4 के दाहिने 6 आकृतियाँ हैं; गुफा 6 के पास दूसरे समूह में 6 बैठी मातृकाएँ हैं, जिनके पार्श्व में अत्यन्त घिसे स्कन्द और गणेश माने गए हैं; निकट के तीसरे विन्यास में 8 बैठी आकृतियाँ और ऊपर मयूर-सहित क्षतिग्रस्त स्कन्द है।⁹ इन समूहों को एक निश्चित, पूर्ण और समान सप्तमातृका-पट्ट बताना संख्या तथा संरक्षण-दशा दोनों की उपेक्षा होगी। कुछ विद्वानों ने अवशिष्ट चिह्नों से अलग-अलग देवियों को पहचानने का प्रयास किया है, किंतु क्षरण उन पहचानों को प्रस्ताव से अधिक दृढ़ नहीं बनने देता।

उदयगिरि का वास्तविक महत्त्व ‘प्रथम सप्तक’ होने में नहीं, बल्कि मातृगण के राजकीय अर्थ वाले बहुदेवतामय परिसर में प्रवेश में है। स्कन्द और गणेश की निकटता उसके उभरते शैव-पारिवारिक संदर्भ को दर्शाती है; वहीं भिन्न संख्याएँ प्रमाणित करती हैं कि 5वीं शताब्दी के आरम्भ में दृश्य व्याकरण अभी प्रयोगशील था। राजकीय स्थल में

प्रतिष्ठा ने स्थानीय या सीमांत शक्तियों को सार्वजनिक दृश्यता दी, किंतु उनकी बहुलता को तत्क्षण समाप्त नहीं किया।

6. गंगधर: उग्र माताओं का पृथक् देवगृह

राजस्थान के झालावाड़ क्षेत्र का गंगधर अभिलेख मातृका-उपासना के संस्थानीकरण का असाधारण प्रमाण है। औलिकर नरेश विश्ववर्मन् के मन्त्री मयूराक्षक ने विष्णु-मन्दिर, माताओं का देवगृह और एक कूप बनवाया। अभिलेख मातृ-आवास को ‘अत्युग्र’ बताता और उसे डाकिनियों से संबद्ध भयावह वातावरण में रखता है।¹⁰ यहाँ मूर्ति या भवन आज सुरक्षित नहीं, और लेख न माताओं की संख्या 7 कहता है न उनके नाम देता है। फिर भी पृथक् वास्तु-स्थान यह प्रमाणित करता है कि मातृ-पूजा अभिजन दान, स्थायी निर्माण और सार्वजनिक पुण्य की संस्था से जुड़ चुकी थी।

लेख की तिथि पर महत्त्वपूर्ण मतभेद है। जॉन फेथफुल फ्लीट ने वर्ष को मालव संवत् 480 पढ़कर लगभग 423-424 ईस्वी माना, जबकि दानिएल बालोघ ने 488 का संशोधित पाठ और लगभग 430-431 ईस्वी प्रस्तावित किया है।¹¹ इस विवाद को छिपाने से कृत्रिम निश्चितता उत्पन्न होगी; दोनों गणनाएँ इसे 5वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही रखती हैं। गंगधर प्रत्यक्ष गुप्त राजवंशीय साक्ष्य नहीं, किंतु गुप्त-समकालीन मालवा की साझा संस्कृत-अभिलेखीय और देवालयी संस्कृति का अंग है।

विष्णु-मन्दिर के साथ मातृ-देवगृह का उल्लेख धार्मिक सीमाओं की लचक भी दिखाता है। इसे केवल शैव विस्तार नहीं कहा जा सकता। मातृकाएँ रुद्र और स्कन्द से निकट थीं, पर वैष्णवी और वाराही जैसे रूप तथा वैष्णव देवालय की समीपता बहुसम्प्रदायिक ग्रहणशीलता का संकेत देती हैं। ‘अत्युग्र’ विशेषण बताता है कि मन्दिर में प्रवेश के बाद उनकी भयकारी शक्ति निष्प्रभावी नहीं हुई; संस्था ने उसी शक्ति को नियंत्रित अनुष्ठान और संरक्षण में रूपान्तरित किया।

7. बड़ोह-पठारी: विशिष्ट सप्तक का निर्णायक साक्ष्य

विदिशा जनपद की ज्ञाननाथ पहाड़ी के दक्षिण-पश्चिमी पाद पर स्थित बड़ोह-पठारी शैलाश्रय इस विकास का सबसे स्पष्ट गुप्तकालीन प्रमाण है। लगभग 50 गुणा 280 सेंटीमीटर

परमानेंट ब्लैक, 2003, पृ. 172-190; शिन, ‘मातृगण से सप्तमातृकाएँ’, पृ. 566-592।

⁸ जॉन फेथफुल फ्लीट, *आरम्भिक गुप्त राजाओं और उनके उत्तराधिकारियों के अभिलेख*, भारतीय अभिलेख-संग्रह, खण्ड 3, कलकत्ता: भारत सरकार मुद्रणालय, 1888, अभिलेख 3, पृ. 21-24, तथा अभिलेख 6, पृ. 34-36; माइकल डी. विलिस, *हिन्दू अनुष्ठान का पुरातत्त्व: देवालय और देव-स्थापना*, कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2009, पृ. 10-78।

⁹ शिन, ‘मातृगण से सप्तमातृकाएँ’, पृ. 577-579; माइस्ट, ‘मातृका-परम्पराओं में क्षेत्रीय विविधताएँ’, पृ. 238-240; विलिस, *हिन्दू अनुष्ठान का पुरातत्त्व*, पृ. 142।

¹⁰ फ्लीट, *आरम्भिक गुप्त राजाओं और उनके उत्तराधिकारियों के अभिलेख*, अभिलेख 17, पृ. 72-78, विशेषतः पृ. 78, पंक्तियाँ 35-37।

¹¹ फ्लीट, वही, पृ. 72-78; दानिएल बालोघ, *औलिकरों और उनके सहयोगियों के अभिलेख*, बर्लिन: डी गृटर, 2019, पृ. 54-64।

के निम्न-उत्कीर्ण पट्ट में 7 माताएँ पृथक् पीठिकाओं पर भद्रासन में बैठी हैं; उनके बाईं ओर ललितासनस्थ, ऊर्ध्वरितस् शिव की पुरुष आकृति है। दाहिनी ओर 9 पंक्तियों वाला अत्यन्त क्षतिग्रस्त अभिलेख है। पुरालिपि और शैली इसे 5वीं शताब्दी में रखती हैं, किंतु इससे अधिक सूक्ष्म तिथि सुरक्षित नहीं।¹²

इस स्थल की विशेषता संख्या, मूर्तिसमूह और लेख का परस्पर संबंध है। अभिलेख में रुद्र, स्कन्द, 'भगवत्यो मातरः' और उनसे संरक्षण की प्रार्थना के अंश पढ़े जा सकते हैं। 'ब्राह्मी से आरम्भ होने वाली', कुमारगुप्त के शासन और आषाढ़ मास जैसे पाठ सम्पादकीय पुनर्निर्माण हैं; इन्हें निश्चित तथ्य की तरह नहीं लिखना चाहिए।¹³ मूर्तियों में भी केवल कृश ग्रीवा और पात्र वाली उग्र देवी को चामुण्डा के रूप में पहचानना अपेक्षाकृत सुरक्षित है; शेष आकृतियों को ब्राह्मणी, माहेश्वरी, वैष्णवी आदि नाम देना सम्भव, किंतु विवादरहित नहीं।

बड़ोह-पठारी स्थानीय और पुराणसम्मत के बीच किसी सरल प्रतिस्थापन के बजाय उनका सह-अस्तित्व दिखाता है। स्थान शैलाश्रय और पहाड़ी की सीमा पर है, पर वहाँ संस्कृत लेख, प्रतिष्ठा, अनुष्ठानिक तिथि-संकेत और देवकुलीय संबंध भी हैं। ऐन कासिल के क्षेत्रीय अध्ययन ने दिखाया है कि बड़ोह-पठारी का धार्मिक भू-दृश्य अनेक सम्प्रदायों, संरक्षकों और मार्गों की पारस्परिक गतिविधि से बना था।¹⁴ रुद्र और स्कन्द का लेखीय उल्लेख मातृकाओं की शैव-कौमार पृष्ठभूमि बनाए रखता है; 7 पंक्तिबद्ध माताएँ उस बहुल परम्परा को नया संख्यात्मक रूप देती हैं।

उदयगिरि, गंगधर और बड़ोह-पठारी को साथ रखने पर सीधी विकास-रेखा नहीं, बल्कि समकालीन प्रयोगों का जाल दिखाई देता है: कहीं 6 और 8 आकृतियों वाले समूह हैं; कहीं नामरहित संख्या के बिना माताओं का पृथक् उग्र देवगृह; और कहीं 7 आकृतियों, शिव तथा मातृ-संबंधी लेख का सन्निवेश। इन्हीं समानान्तर प्रयोगों से उत्तरकालीन मानक बना।

8. देवीमाहात्म्य और बृहत्संहिता: आख्यान तथा लक्षण का संहिताकरण

महाभारत के मातृगण की तुलना में देवीमाहात्म्य मातृकाओं को अधिक सुसंगत देवी-केंद्रित युद्ध-आख्यान में रखता है। शुम्भ-निशुम्भ प्रसंग में प्रमुख देवताओं की शक्तियाँ उनके शरीरों से निकलकर चण्डिका की सहायता के लिए आती हैं। ब्राह्मणी ब्रह्मा का रूप और वाहन, माहेश्वरी शिव का त्रिशूल तथा वृषभ, कौमारी स्कन्द की शक्ति और मयूर, वैष्णवी शंख-चक्र और गरुड़, वाराही वराह-मुख, नारसिंही नरसिंह-रूप तथा ऐन्द्री वज्र और ऐरावत-संबंध धारण करती है।¹⁵ यह पुरुष देवों से नाम और चिह्न प्राप्त करने की व्यवस्थित पौराणिक व्याख्या है।

यहाँ एक निर्णायक असमानता है। अध्याय 8 के श्लोक 15-21 में जिन 7 देवशक्तियों का क्रम है, उनमें नारसिंही सम्मिलित है, चामुण्डा नहीं। काली को चण्ड-मुण्ड-वध के कारण चामुण्डा नाम अलग प्रसंग में मिलता है और शिवदूती भी पृथक् शक्ति है।¹⁶ उत्तरकालीन दृश्य सप्तक प्रायः नारसिंही को हटाकर चामुण्डा को सम्मिलित करता है। पाठ और प्रतिमा का यह अंतर बताता है कि नामित सप्तक का संहिताकरण भी एक समान नहीं था। देवीमाहात्म्य की तिथि और उसके अंशों की परतें विवादित हैं। परम्परागत मत इसे 5वीं-6वीं शताब्दी में रखता है, जबकि वर्तमान पाठ के लिए 8वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक की उत्तरवर्ती तिथि भी प्रस्तावित हुई है; इसलिए इसे किसी विशिष्ट गुप्त सम्राट के समय का निश्चित साक्ष्य मानना सुरक्षित नहीं।¹⁷

रक्तबीज-वध में मातृकाएँ अपनी सामूहिक शक्ति का विशिष्ट अर्थ प्रकट करती हैं। असुर के रक्त की प्रत्येक बूँद नया शरीर पैदा करती है; अतः केवल शस्त्राघात पर्याप्त नहीं। मातृगण और चामुण्डा रक्त को भूमि तक पहुँचने से रोकती हैं। जन्म और वृद्धि से संबद्ध देवियाँ यहाँ अनियंत्रित, विनाशकारी पुनरुत्पादन को नियंत्रित करती हैं। कथा के अंत में शक्तियाँ महादेवी में समाहित हो जाती हैं। इस प्रकार वे एक साथ पुरुष देवताओं की क्रियाशक्तियाँ और सर्वोच्च देवी की अभिव्यक्तियाँ हैं-निर्भर प्रतिष्ठाया नहीं।

¹² दानिएल बालोघ, 'बड़ोह-पठारी सप्तमातृ-पट्ट अभिलेख', *इण्डो-ईरानियन जर्नल*, खण्ड 62, अंक 3, 2019, पृ. 191-226, विशेषतः पृ. 191-196।

¹³ बालोघ, वही, पृ. 207-223। कुमारगुप्त, आषाढ़ और 'ब्राह्म्यादि' से संबंधित पुनर्निर्माणों को लेखक ने सम्भावनात्मक रखा है।

¹⁴ ऐन कासिल, 'गुप्त काल में बदलते धार्मिक भू-दृश्य: मध्य भारत के बड़ोह-पठारी क्षेत्र से पुरातात्विक प्रमाण', *साउथ एशियन स्टडीज*, खण्ड 30, अंक 2, 2014, पृ. 245-268।

¹⁵ एम. एल. वाडेकर, सम्पादक, *मार्कण्डेयपुराणम्*, खण्ड 2, वडोदरा: प्राच्यविद्या संस्थान, 2011, स्वतन्त्र देवीमाहात्म्य गणना

8.12-21; थॉमस बी. कोबर्न, *देवी से साक्षात्कार: देवीमाहात्म्य का अनुवाद और उसकी व्याख्या का अध्ययन*, अल्बानी: न्यूयॉर्क राज्य विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1991, पृ. 27-31।

¹⁶ देवीमाहात्म्य, 7.1-25; 8.15-23; 8.39 तथा 8.53; माइस्ट्र, 'मातृका-परम्पराओं में क्षेत्रीय विविधताएँ', पृ. 235-238।

¹⁷ कोबर्न, *देवी से साक्षात्कार*, पृ. 13 तथा 27-31; यूको योकोची, *प्राचीन भारत में योद्धा देवी का उत्कर्ष*, शोधप्रबन्ध, ग्रोनिंगन विश्वविद्यालय, 2004, पृ. 21-23; पाठ की विकासशील परतों और मातृका-प्रकरण की तिथि पर सावधानी के लिए शिन, 'मातृगण से सप्तमातृकाएँ', पृ. 583-587।

6वीं शताब्दी के वराहमिहिर की *बृहत्संहिता* मूर्तिवैज्ञानिक पक्ष का संक्षिप्त सूत्र देती है: “मातृगणः कर्तव्यः स्वनामदेवानुरूपकृतचिह्नः”-मातृगण को उनके नाम से संबद्ध देवताओं के अनुरूप चिह्नों से बनाया जाए।¹⁸ विभिन्न संस्करणों में यह प्रतिमालक्षण अध्याय 57 अथवा 58 का श्लोक 56 है। सूत्र न संख्या 7 बताता है, न पूरी नाम-सूची; इसलिए इससे पूर्ण मानकीकरण सिद्ध नहीं होता। किंतु यह अवश्य बताता है कि 6वीं शताब्दी तक शिल्पी और दर्शक

के लिए पहचान की व्याकरण स्थापित हो चुकी थी: स्त्री-रूप समान रह सकता था, जबकि आयुध, वाहन, मुख और मुकुट संबद्ध देवता का संकेत देते थे।

उत्तरकालीन ग्रन्थों के आधार पर प्रचलित रूपों को निम्न प्रकार संक्षेपित किया जा सकता है, पर इन्हें प्रत्येक गुप्तकालीन प्रतिमा पर यांत्रिक रूप से आरोपित नहीं करना चाहिए।¹⁹

सारणी 1 सप्तमातृकाओं का उत्तरकालीन पहचान-विन्यास

मातृका	संबद्ध देवता	प्रमुख पहचान-चिह्न	धार्मिक अर्थ
ब्राह्मणी	ब्रह्मा	बहुमुखता, अक्षमाला, कमण्डलु, हंस	सृष्टि और विधि
माहेश्वरी	शिव	त्रिशूल, जटामुकुट, चन्द्र, वृषभ	तप, संहार और रक्षण
कौमारी	स्कन्द	शक्ति, मयूर	युद्ध और युवा सैन्य सामर्थ्य
वैष्णवी	विष्णु	शंख, चक्र, गरुड़	व्यवस्था और संरक्षण
वाराही	वराह	शूकरमुख, दण्ड अथवा हल	पृथ्वी-रक्षा और उग्र बल
ऐन्द्री	इन्द्र	वज्र, गज, मुकुट	राजकीय तेज और विजय
चामुण्डा अथवा नारसिंही	देवी अथवा नरसिंह	कृश देह, कपाल; अथवा सिंहमुख	मृत्यु, सीमा और अनियंत्रित शक्ति का दमन

9. सामूहिक प्रतिमा का अर्थ: मातृत्व, युद्ध और सत्ता

सप्तमातृका-पट्ट की सबसे विशिष्ट दृश्य विशेषता पंक्तिबद्धता है। समान आकार और आसन दर्शक को पहले सामूहिक परिषद् का बोध कराते हैं; अलग मुख, वाहन और आयुध प्रत्येक देवी का पृथक् क्षेत्र बताते हैं। इस प्रकार रूप एकता को समानता में नहीं, संघ में व्यक्त करता है। असंख्य स्थानीय शक्तियाँ 7 प्रतिनिधियों में संकुचित होती हैं, पर वाराही का पशुमुख, चामुण्डा की मृत्यु-सन्निकट कृशता, ब्राह्मणी की सृजनात्मक गरिमा और कौमारी की सैन्य शक्ति विविधता को जीवित रखते हैं। संख्या संगठन देती है; भिन्नता जीवंत धार्मिक स्मृति को बनाए रखती है।

मातृत्व यहाँ केवल गोद में शिशु रखने की जैविक छवि नहीं है। कुछ प्रतिमाओं में बालक मिलता है, अनेक में नहीं। ‘माता’ सृजन, पोषण, अनुशासन, रोग, संकट-निवारण और समुदाय-रक्षा की व्यापक शक्ति है। गंगधार का भयावह देवगृह और बड़ोह-पठारी की मातृवत् रक्षा-याचना इसी सत्ता के 2 पक्ष हैं। अप्रसन्न माता संकटकारी हो सकती है; पूजित

माता उसी संकट को दूर करती है। अतः उग्र आयुध मातृत्व का निषेध नहीं, उसकी रक्षक सीमा का विस्तार है।

युद्ध और राजसत्ता से संबंध भी इसी विस्तार का परिणाम था। स्कन्द देवसेनापति है; *देवीमाहात्म्य* में मातृकाएँ असुर-सेना का संहार करती हैं; उदयगिरि में वे राजनीतिक अर्थ वाले पवित्र परिसर में हैं। कैथरीन हार्पर ने युद्धरत शक्तियों को गुप्त विजय-कल्पना से जोड़कर पढ़ा है।²⁰ यह व्याख्या विचारोत्तेजक है, पर प्रत्येक मातृका-पट्ट को साम्राज्यवादी प्रचार कहना प्रमाण से आगे जाना होगा। अधिक सुरक्षित निष्कर्ष यह है कि राजा, मन्त्री और स्थानीय अभिजन संकट-निवारक देवियों के लिए स्थायी स्थल बनाकर सार्वजनिक पुण्य तथा संरक्षण की वैधता अर्जित करते थे। धार्मिक सत्ता ने राजकीय संरक्षण पाया और राजसत्ता ने स्थानीय दैवी सामर्थ्य की स्वीकृति।

सप्तमातृकाओं में स्त्री-दैवत्व की प्रबलता को तत्कालीन स्त्रियों की सामाजिक मुक्ति का सीधा प्रमाण भी नहीं बनाया जा सकता। शक्तिशाली देवियाँ पितृसत्तात्मक उत्तराधिकार, विवाह और सम्पत्ति-व्यवस्था के साथ सह-अस्तित्व रख

¹⁸ वराहमिहिर, *बृहत्संहिता*, प्रतिमालक्षण-अध्याय 57 अथवा 58, श्लोक 56; एम. रामकृष्ण भट्ट, सम्पादित एवं अनूदित, *वराहमिहिर की बृहत्संहिता*, खण्ड 1, दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, 1981, पृ. 516।

¹⁹ टी. ए. गोपीनाथ राव, *हिन्दू प्रतिमाविज्ञान के तत्त्व*, खण्ड 1, भाग 2, द्वितीय संस्करण, वाराणसी: इण्डोलॉजिकल बुक हाउस, 1971, पृ. 379-383; जितेन्द्रनाथ बनर्जी, *हिन्दू प्रतिमाविज्ञान का विकास*,

द्वितीय संशोधित संस्करण, कलकत्ता: कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1956।

²⁰ कैथरीन ऐन हार्पर, ‘युद्धरत शक्तियाँ: गुप्त विजयों का एक प्रतिमान’, कैथरीन ऐन हार्पर एवं रॉबर्ट एल. ब्राउन द्वारा सम्पादित *तन्त्र की जड़ें*, अल्बानी: न्यूयॉर्क राज्य विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2002, पृ. 115-131।

सकती थीं।²¹ फिर भी यह देवसमूह स्त्री-शक्ति को घरेलू कोमलता तक सीमित नहीं करता; उसे युद्ध, रोग-नियंत्रण, सीमा-रक्षा और सार्वभौम देवी क्रिया की भाषा देता है। सामाजिक इतिहास के लिए यह धार्मिक कल्पना महत्त्वपूर्ण है, पर जीवित स्त्रियों की स्थिति जानने के लिए दान-अभिलेख, सम्पत्ति-अधिकार और पारिवारिक व्यवहार के स्वतंत्र साक्ष्य आवश्यक हैं।

10. क्षेत्रीय विविधता और गुप्तोत्तर विकास

मध्य भारत-विशेषतः विदिशा, मालवा और राजस्थान के निकटवर्ती क्षेत्र-में आरम्भिक सुदृढ़ प्रमाणों का संकेंद्रण उल्लेखनीय है, पर इससे एक ही केंद्र से पूरे उपमहाद्वीप में यांत्रिक प्रसार सिद्ध नहीं होता। माइस्ट्र की तुलनात्मक समीक्षा बताती है कि बड़ोह-पठारी, देवगढ़, एलिफेंटा, ऐहोल, एलोरा और भुवनेश्वर में देवियों का क्रम, संख्या, आसन, आयुध तथा पार्श्वपात्र बदलते हैं।²² गुप्तकालीन मध्य भारत ने प्रभावशाली रूप-व्याकरण दिया; अलग-अलग क्षेत्रों ने उसे अपनी ग्रामदेवियों, शैव परिसरों और अनुष्ठानों के अनुसार अपनाया।

गुप्तोत्तर शताब्दियों में गणेश और वीरभद्र अनेक पट्टों के पार्श्वदेव बने, चामुण्डा ने दृश्य सप्तक में अधिक स्थिर स्थान पाया और मातृकाएँ शैव मन्दिर-परिवार अथवा आवरण-देवताओं का अंग बनीं। कहीं वे स्वतंत्र देवस्थान में रहीं; कहीं विस्तृत योगिनी-मण्डलों और तांत्रिक वर्णमाला-शक्तियों से जुड़ीं। मातृका से योगिनी तक संबंध में निरन्तरता अवश्य है, किंतु उसे सीधी वंशरेखा नहीं माना जा सकता; संख्या, शरीर, अनुष्ठान और सिद्धान्त में गहरे रूपान्तरण हुए।²³ इस विस्तार की सम्भावना उसी लचीले गुप्तकालीन व्याकरण ने बनाई जिसमें एक देवी स्थानीय विशेषता बचाए रखते हुए व्यापक देवकुल का अंग बन सकती थी।

11. निष्कर्ष

उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर सप्तमातृकाओं की उत्पत्ति को किसी एक स्थल, ग्रन्थ या शासक से जोड़ना उचित नहीं। उनकी ऐतिहासिक निर्मिति 4 परस्पर संबद्ध प्रक्रियाओं से हुई: पहली, प्रसव, बालग्रह, रोग और ग्राम-सीमा से जुड़ी दीर्घ मातृ-परम्परा; दूसरी, *महाभारत* के स्कन्दोपाख्यान में बहुसंख्यक माताओं का पौराणिक

समावेशन; तीसरी, प्रमुख देवताओं की शक्तियों के रूप में नाम, आयुध और वाहन द्वारा उनका वर्गीकरण; तथा चौथी, शैलाश्रय, देवगृह, प्रतिष्ठा-अभिलेख और अभिजन संरक्षण के माध्यम से सार्वजनिक संस्था का निर्माण।

तीनों प्रमुख पुरातात्विक-अभिलेखीय स्थलों का तुलनात्मक पाठ इस प्रक्रिया को विशेष स्पष्टता देता है। उदयगिरि की 6, 6 और 8 आकृतियों वाली पंक्तियाँ मानकीकरण-पूर्व प्रयोगशीलता दिखाती हैं। गंगधार माताओं की संख्या नहीं बताता, किंतु उनके पृथक् 'अत्युग्र' देवगृह से संस्थागत प्रतिष्ठा सिद्ध करता है। बड़ोह-पठारी में 7 माताओं, शिव और मातृ-संबंधी अभिलेख का सन्निवेश विशिष्ट सप्तक की ओर सबसे दृढ़ कदम है। *देवीमाहात्म्य* मातृकाओं को देवी-केंद्रित युद्ध-धर्म में पुनर्गठित करता है, जबकि *बृहत्संहिता* पुरुष देव-संबद्ध चिह्नों द्वारा उनकी दृश्य पहचान का सूत्र देती है। पर नारसिंही और चामुण्डा का अदल-बदल, उदयगिरि की भिन्न संख्याएँ तथा क्षेत्रीय क्रमभेद सिद्ध करते हैं कि 5वीं-6वीं शताब्दी तक प्रक्रिया पूर्ण नहीं हुई थी।

अतः गुप्त युग का योगदान 'आविष्कार' की अपेक्षा 'स्फुटीकरण' था। उसने मातृ-बहुलता से प्रतिनिधि सप्तक चुनने, उसे नामित देवशक्तियों में बदलने, शिल्पियों के लिए पहचानयोग्य चिह्न बनाने और उग्र स्थानीय शक्तियों को स्थायी पूजा-संस्था में प्रतिष्ठित करने की प्रक्रिया तीव्र की। इस परिवर्तन में पुराना नष्ट नहीं हुआ: मातृकाओं की सीमांतता, रोगकारिता, रक्त-संबंध और भयावहता उनके नए राजसी रूपों में भी उपस्थित रहे। उनकी दीर्घजीविता इसी क्षमता में थी कि वे माता और योद्धा, रोगकारिणी और आरोग्यदायिनी, स्थानीय शक्ति और सार्वभौम देवी-इन सभी को एक सामूहिक प्रतिमा में समेट सकीं।

Disclaimer/Publisher's Note: The views, findings, conclusions, and opinions expressed in articles published in this journal are exclusively those of the individual author(s) and contributor(s). The publisher and/or editorial team neither endorse nor necessarily share these viewpoints. The publisher and/or editors assume no responsibility or liability for any damage, harm, loss, or injury, whether personal or otherwise, that might occur from the use, interpretation, or reliance upon the information, methods, instructions, or products discussed in the journal's content.

²¹ ऐल्फ हिल्डेबाइटल एवं कैथलीन एम. एरण्डल, सम्पादक, *क्या देवी स्त्रीवादी है? दक्षिण एशियाई देवियों की राजनीति*, न्यूयॉर्क: न्यूयॉर्क विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2000।

²² माइस्ट्र, 'मातृका-परम्पराओं में क्षेत्रीय विविधताएँ', पृ. 233-262।

²³ शमन हैटली, 'मातृ से योगिनी: दक्षिण एशियाई मातृदेवी-सम्प्रदायों में निरन्तरता और रूपान्तरण', इस्तवान क्यूल द्वारा सम्पादित *एशिया और उसके बाहर तन्त्र के रूपान्तरण और संचरण*, बर्लिन: डी ग्रेटर, 2012, पृ. 99-129।